जैनधर्म और सामाजिक समता
(वर्ण एवं जाति व्यवस्था के विशेष शास्त्र विषय
में)
- प्र. शायामलाल जैन

मानव समाज में स्रोत-पुरुष, सूत्र-अमुक्त, बुद्धिमान-मूर्ति, आर्य-अनार्य, कुलीन-अकुलीन, स्पृर्द-अर्प्सर्द, धर्मी-निर्मी आदि के भेद प्राचीनकाल से ही पाये जाते हैं। इनमें कुछ भेद तो नैसर्गिक है और कुछ मानव वृजित। वे मानव वृजित भेद ही सामाजिक विभाजन के कारण हैं। यह सत्य है कि सभी मनुष्य, सभी वर्गों में एक दूसरे से समान नहीं होते, उनमें सूत्र-सूत्र्य, धर्म-धर्म, बौद्धिक-बौद्धिक, कर्म-कर्म, व्यवसायिक-व्यवसायिक आदि के दृष्टि से विभिन्नता या तरमता होती है। किंतु इन विभिन्नताओं या तरमताओं के आधार पर अस्थायी मानव समाज के किसी व्यक्ति विशेष का वर्ण-विशेष में जन्म लेने के आधार पर मित्र, पिता, बेटा या अपस्वर्ण मान लेना उचित नहीं है। यह सत्य है कि मनुष्यों में विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्नता या तरमता पायी जाती है और वह सदैव वो भी रहेगी, किंतु इसे मानव समाज में वर्ण-भेद या वर्ण-भेद का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक भी पिता के दो पुत्रों में ऐसी भिन्नता या तरमता देखने में आती है। हम यह भी देखते हैं कि जो व्यक्ति मरीज होता है, वही कालक्रम में धनवान या समावेशी नहीं होता है। एक मूर्ति का पुत्र भी बुद्धिमान अथवा प्राजो हो सकता है। एक विषय के दो पुत्रों में एक बुद्धिमान दूसरा मूर्ति अथवा एक सूत्रद दूसरा सूत्र हो सकता है। अतः इस प्रकार के तरमताओं के आधार पर मनुष्यों को सदैव के लिए माना जाना आधार नहीं वर्ण वर्ण के बीतर कर नहीं समझा जा सकता है। इसलिए धर्मोपाध्याय हेतु व्यक्ति विभिन्न व्यवसायिक क्षेत्र हो, वहां कला, विद्या अथवा राजनैतिक के क्षेत्र हो, हम मानव समाज के किसी एक वर्ण विशेष को जन्मानाधार पर उसका विकास नहीं मान सकते हैं। यह सत्य है कि नैसर्गिक व्यवस्थाएं एवं कार्यकलाप के आधार पर मानव समाज में सदैव ही व्यापक या व्यापक बने रहें, फिर भी उनका आधार वर्ण या जाति विशेष में जन्म न होकर व्यक्ति को अपनी व्यवसायिक व्यवस्था के आधार पर अनन्त गैर व्यक्तित्व या कार्यों के होगा। व्यक्तित्व या कार्य के सभी क्षेत्र सभी व्यक्तियों के लिए व्यापक रूप से अधिक या कम नहीं कहा जाएगा, वरन् स्वयं व्यक्ति को विशेष विशेष में जन्म न होकर व्यक्ति को अपनी व्यवसायिक व्यवस्था के आधार पर अनन्त गैर व्यक्तित्व या कार्यों के होगा।
मानच समाज के सभी सदस्यों को विकास के समान आत्मच सम्बन्ध हो तथा प्राथमिक व्यक्ति अपनी क्षमता और योगदान के आधार पर अपना कार्य क्षेत्र निर्धारित कर सके। इस सामाजिक सम्बन्ध के सन्दर्भ में जहाँ धेरी दलीयावास के विनिमय का प्रतीत है, उन्होंने मानच में स्थायीकर- 
दोषक्षात्त की तरह अपना गृह क्षेत्र संयोजक जनता को स्वरूपार्थी तुलना भी यह माना है कि 
वाले विधि का क्षेत्र हो, वाले व्यवसाय या समाज का उसमें प्रवेश का दर जहाँ के लिए विना 
मेध-भाव के खुले रहना चाहिए। धेरी धार्म धर्म से हम बात को मानता है कि किसी जाति 
या वर्ण-विशेष ने जनम लेने से कोई व्यक्ति हर्ष या हीन नहीं होता। उसे जो हीन या हर्ष 
वनाता है, तब है उसका अपना पुरुषाय, उसकी अपनी साधना, समाज और वर्ग। धेरी जनों 
के हैं विषयों को अधिक पृथ्वी में स्थापना प्रस्तुत करने का प्रवर्त करेंगे।

जनन्मा वर्ण-व्यवस्था: एक असमीयन अवधारणा

धेरी आदर्श शरीर के इस कथन को स्वीकार नहीं करते हैं कि ब्राह्मणों की उपलब्धि दृष्टि के 
मुख से, क्षत्रिय की बात के से, वेश्यों की जड़ से और शून्य की पृथ्वी से हुई है। चूंकि मुख दृष्टि 
अंक है, अतः हम सबों दृष्टि ही दृष्टि है। ब्राह्मण के दशर्य के विषय आंकों से जनम के 
आधार पर दृष्टि, क्षत्रिय, वेश्य एवं शून्य के दृष्टि धेरी जनवादी को स्वीकार नहीं 
हैं। उनका कहना है कि सभी नन्दु स्त्री-वृत्ति से ही उत्पन्न होते हैं। अतः सभी समाज है।

पूर्व: हम आंकों से किसी को दृष्टि एवं उत्तम और किसीमें किसीमें वह जीना मानकर 
वर्ण-व्यवस्था में अनुसरण पर दृष्टि का विवाह नहीं किया जा सकता, क्योंकि दशर्य के सभी 
अंक समाज महत्त्व के हैं। इसी प्रकार शासकिक वर्णों के भेदन के आधार पर दृष्टि वहा 
दृष्टि आदि जातियों का वर्णकिरण भी धेरी को जाना नहीं है।

आदर्श जस्टिसिंड नन्द ने अपने वारंग-विश्वत्स में हम दृष्टि का विवाह से विवाह किया है 
कि शास्त्रिक विविधताओं या वर्णों के आधार पर दृष्टि जाने वाला जाति समक्षी वर्णकिरण 
बात पूर्व-पूर्वी आदि के विषय में ही सब या सकता है, नन्दुओं के सन्दर्भ में नहीं। वर्णकिरण 
वंद पूर्व-पूर्वी आदि में जाति का विवाह सम्बन्ध है, इन्तु नन्दु के विषय में वह विवाह सम्बन्ध 
नहीं है, क्योंकि सभी नन्दु समाज है। नन्दुओं की ही कहता है। न तो सभी ब्राह्मण शून्य 
क्षे के होते हैं, न सभी वेश्य पृथ्वी क्षे के और न सभी शून्य क्षे के होते हैं। अतः जनम के आधार पर दृष्टि व वर्ण का विवाह सम्बन्ध नहीं है।

समाज में दृष्टि-वृत्ति का आधार किसी वर्ण विनम्र पर जाति विषय में जनम लेना नहीं माना 
जा सकता। धेरी केन्द्र जनम परम्परा, श्रेष्ठ गृहपति परम्परा दे भी हमें उदाहरण है जहाँ जीवन 
क्षे से उदाहरण व्यक्ति भी अपनी प्रतिमा और आदर्श के आधार पर श्रेष्ठ कहलाये। ब्राह्मणों 
की अनुसरणा पर दृष्टि यह लगते हैं दृष्टि-वृत्ति में जस्टिसिंड नन्द कहते हैं कि "जो 
ब्राह्मण न्याय राजा की क्षे के आदर्श है और उनके द्वारा अनुशासित होकर उनके अनुयाय 
की अपेक्षा रखते हैं, ऐसे दृष्टि ब्राह्मण नृपिय (क्षे) से केसम श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। दृष्टि 
ब्राह्मण के मुख से निर्माण हुए अति श्रेष्ठ है -- यह वर्ण केन्द्र अपने स्वप्नों की पूर्ति के लिए
क्षमा ग्रहित है। भ्राह्मण प्रतिज्ञा राजाओं की स्तुति करते हैं और उनके लिए स्वच्छता पाठ एवं आचरण पाठ करते हैं, लेकिन वह सब में धन की आशा से ही किया जाता है, अतः ऐसे भ्राह्मण आदरकाम नहीं माने जा सकते हैं। फलतः इसका अपरिस्थिति का बाह्य दृष्टि है। जिस प्रकार ने रघुनाथादि में कार्य स्थिति के अनुसार विनिमय वेशमुख की धारणा करता है उसी प्रकार जैन भी सरस्वती श्री कवयम पर कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों को प्राप्त करता है।

फलतः आत्मा ने भ्राह्मण है, न क्षतिग्रस्त, न केवल और न शून्य ही। वह तो अपने ही पूर्व कर्मों के कारण में होकर सद्याचार में विभिन्न स्थानों में जन्म ग्रहण करता है। यदि शान्ति के आधार पर ही जीवन की भ्राह्मण, क्षतिग्रस्त कहा जाय, तो वह भी उचित नहीं है। विजय-जन बैठ को नहीं, जान (चागवल) को ही ब्रह्म कहते हैं। अतः निर्मीत्र कथा जाने वालों शून्य भी जान या प्राप्त-धमन के आधार पर बेदाध्ययन करने का पात्र हो सकता है। विद्या, आध्ययन एवं संदर्भ से ही मिलता ज्ञान विशेष में अति लेने मात्र से भ्राह्मण नहीं है जाता। अपने अपने जान, सद्याचार अदेश से भद्र होकर ही भ्राह्मण होता है। क्षण, वर्षित, कुमार, कुल, धरो, पाराशर आदि अपने जन्म के आधार पर नहीं, अपने सद्या आधार से ही भ्राह्मण के अनुसार उसे ही भ्राह्मण कहते हैं। अतः भ्राह्मण का अदेश सद्याचार और कर्मविशेषता पर आधारित है -- जन्म पर नहीं।

सच्चाई भ्राह्मण कीना?

जैन परम्परा ने सद्याचार को ही मानवीय जीवन में उद्धार और मिथ्या का प्रतिमान माना है। उद्धारकार्य सुधूर के पत्तीसंबंध अध्ययन एवं मानव-पद के भ्राह्मण को नामग अध्ययन में सच्चाई भ्राह्मण को, इसका विस्तार से विशेषण उपलब्ध है। विस्तार भव से उसकी समग्र दया में न जगाकर केवल लक्ष्य गायबों को प्रस्तुत कर ही हिरास में। उसमें कहा गया है कि "जिसे लोक के अच्छे पुरुषों ने भ्राह्मण कहा है, जो अभिने मन शायद लोह यथास्थित छोड़ और जो प्रचारकर्मों के आने पर आस्वादन नहीं होता और न उनके जाने पर शोक करता है। जो सद्या आधार-विशेष में समान कटता है, उसे भ्राह्मण कहते हैं।"

"कर्ममील पर वर्ष के पास और अभिने के प्राप्त दामन हुए, शून्य किनारे गए जात रूप साने की तरह जो विश्रुत है, जो राग रूप और भव से मुक्त है, उसी जो प्रत्येक है, कृत है, बाल द, जिसका मार और रूप अपवित्र (कम) हो गया है, जो सुन्त है, शांत है, उसे ही भ्राह्मण कहा जाता है।"

"जो अभिने और स्थान जीवों को समयक्ष प्रकार से जानकर उनकी मन, वासना और कारण से हिस्सा नहीं करता है, जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भव से फूल नहीं बोलता, जो सत्ता या अचिक्ल, था या अधिक अदन नहीं लेता है, जो देव, मनुषय और तिथिय स्वच्छता में कर, बदन और शरीर से सेवन नहीं करता है, जिन प्रकार जल में उदचार हुआ कमल जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो कामों में अलिपित रहता है, उसे ही भ्राह्मण कहते है।"

इसलिए प्रकार जो भ्राह्मण में नोट्जुप नहीं है, जो निर्देश भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है,
जो गूढ लघुस्वन है, जो अति्तित्सु हैं, पूर्वजातिजनों एवं कन्हु-बालासों में आज़मत नहीं होता है, उसे ही ब्राह्मण कहते हैं।5

धम्मपद में भी कहा गया है कि "जैसे कमल पत्त पर पानी होता है, जैसे आरो की नौकर पर सरसो का दला होता है, जैसे ही जो कामों में निजत नहीं होता, जिसके अपने सुन्दरों के क्षण को यहीं पर देख सिया है, जिसने जन्म-सरण के भार को उतार दिया है, जो सर्वथा अनास्वत है, जो शाधारण है, स्थितिप्रभाव है, जो समारंभ तथा कुमार्म स्वभाव को जानने में कुशल हैं और जो निर्देशन की उत्तम स्थिति की पहुंच युक्त है -- उसे ही मः ब्राह्मण कहता है।"6 इस प्रकार तथा देखा जाता है कि जैन एवं बौद्ध दोनों परस्परों ने ही सदाचार के आधार पर ब्राह्मणक की निर्धारण की स्वीकार करते हुए ब्राह्मण की पहल नहीं परिभाषा प्रस्तुत की, जो सदाचार और सामाजिक समता की प्रतिकृति थी। न केवल जैन परस्पर एवं बौद्ध-परस्पर में, वरन् महाभारत में भी ब्राह्मणक की यही परिभाषा है। जैन परस्पर के उत्तराध्यक्षयुग में बौद्ध-परस्पर के धम्मपद और महाभारत के शास्त्रीय में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का जो विवरण मिलता है, वह न केवल ऐतिहासिक सामयिक स्थल है, वरन् उसमें आदिक समय का भी अविच्छेद, जो कि कृतात्मक आधारण की वृत्ति से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सच्चे ब्राह्मण कौन है? इस विषय में 'कुश्चर्पकल प्रायोध-प्रक्रम' में मूर्तुस्वरूप एवं मनुस्मृति एवं मनुस्मृति ने कुन भोजन करके वह कहता गया है कि -- "भीतर सम्पन्न शूद्र भी ब्राह्मणक को प्रश्रेष्ठ हो जाता है और सदाचार रहित ब्राह्मण भी शूद्र के समान हो जाता है। अतः सभी जातियों में चाहिए और सभी जातियों में ब्राह्मण होने का प्रयास किया जाए।" यह केवल! जो ब्राह्मण शृंखल, वशीयता, गोरखा तथा राज्य की देखभाल करते हैं, वे तथ्यतः ब्राह्मण नहीं हैं। जो भी दित्त हिंसक, अम्बावरी, चौड़ेकर्म ने लिपिष्ट, पदार्थ सेवित हैं। वे सभी पशु (शूद्र) हैं। इसके विपरीत ब्राह्मण और तथा शुद्ध लौह च श्रीस्मृति में समान भाव स्वने वहने वाले, प्राणीयों के प्रति ध्यान सभी जाति के जितने ब्राह्मण ही हैं।

सच्चे ब्राह्मण के लक्षण बताते हुए कहा गया है -- "जो व्यक्ति भाषात्मक आदि पृथ्वी से बुद्ध हो, जिसने सभी दानों (परपौर्ण) का परित्याग कर दिया है, जो निधिक-भोजी है और किसी भी प्राणी को दिन के अन्न करता यह किसी व्यक्ति के ब्राह्मण होने का प्रायोध लक्षण है। इसी प्रकार जो कभी असत्य नहीं बोलता, निबन्धांश्च से दूर रहता है -- वह ब्राह्मण का श्रीमान्त कारक है। पूरा: जिसने पदार्थ का त्याग कर दिया है तथा जो अद्वैत का गृहन्न करता, वह उसके ब्राह्मण होने का प्रतिवर्तक कारक है। जो देव, अभुत, नुकसान तथा फलुकांकों का प्रति भ्रूण का संकेत नहीं करता -- वह उसके ब्राह्मण होने का बलकृष्क कारक है। जिसने कुटुम्ब का बास अवर्त गुह्याभास का त्याग कर दिया है, जो परिक्रम और आरंभित की रहित है, वह ब्राह्मण होने का पंड्यव लक्षण है। इस चौथे लक्षण से बुद्ध है किमें ब्राह्मण हैं, दित्त है और मुहिन हैं, श्रृंखल हैं, श्रृंखल हैं, केवल शुद्ध नहीं हैं। यही परिणाम हरियों के गर्भ से उत्पन्न व्यास नामक महामुनि हैं। इसी प्रकार हरियों के गर्भ से उत्पन्न श्रेष्ठ राजा, श्रुति के गर्भ से शुक माहूकृ के गर्भ से माहूवन के गर्भ से उत्पन्न हुए। न तो इन सभी
कर्मणा वर्ण-व्यवस्था जैनों की भी स्वीकार

जैन परम्परायें में वर्ण का आधार जन्म नहीं, अपितु कर्म माना गया है। जैन विवादण जन्मना जातिव्य की विचारधि है, कितना कर्मणा कर्मव्यवस्था से उसका कोई सैद्धांतिक विचित्र नहीं है। उत्तरार्ज्जुनसुरू 8 में कहा गया है कि -- "मनुष्य कर्म से ब्रह्मण, कर्म से क्षत्रिय व एवं कर्म से ही वैष्णव एवं शूर होता है। महाभारत में कहा गया है कि जातिनाम कर्म के उदय से तो मनुष्य जाति एक ही है। फिर भी आजादिक भेद से का बार प्रकार की कडी गई है। इन के संस्कार से ब्रह्मण, श्रवण को धारण करने से क्षत्रिय, व्यापारिक अर्थ का उपार्जन करने से वैष्णव और निम्न श्रेणी की आजादिक आत्माओं का आधार लेने से शूर कहे जाते हैं। धन-धारा आदि सम्पत्ति पशु स्त्रिया जैसे जन्तुओं पर गुरु की आत्मा से अलग से आजादिक अर्जन करने से वर्ण की प्रकृति या वर्ण लाभ होता है [38/45-46,137]। इस का तात्पर्य यही है कि वर्णया जाति समस्त भेद जन्म पर नहीं, आजादिक या वृत्ति पर आधारित है। भारतीय वर्ण व्यवस्था के पौर्व एक मनोवैज्ञानिक आधार रहा है कि वर्णवैज्ञानिक- योगात्मक आवेदत व्यवस्था के आधार पर ही व्यक्ति के साधारण विचित्र (कर्मों) का निर्धारण करती है। जिससे प्रकार नहीं किया जा सकता है।

अपनी स्वाभाविक बोधता के आधार पर साधारण धार्मिकता का निर्धार करने का समर्थन भी। राधाकृष्णनं और पार्श्वनाथ विचारक श्री मैरल्ड खड़े ने भी किया है 9। भारतीय स्वाभाविक जीवन के जागरूकता वा विज्ञान- वृत्ति, सामाजिक वा नेतृत्व-वृत्ति, संस्कृतिवृत्ति और शासित होने की प्रकृति का समाधान से विचारण नहीं होता है। साधारण: मनुष्यों में इन वृत्तियों का समान रूप से विकसित नहीं होता है। प्राकृतिक मनुष्य में इसे से किसी एक का प्रधान होता है। इससे और साधारण नैसस्टिक से समाज-व्यवस्था में धार-प्रमुख कार्य है -- 1. शिक्षण 2. रक्षण 3. उपार्जन और 4. सेवा। यह यह आवश्यक माना गया है कि व्यक्ति अपने स्वभाव में जिस वृत्ति का धार्मिक हो, उसके अनुसार साधारण व्यवस्था में अपना कार्य चुने। जिसमें बुद्धी नैसस्टिक और जिनात्मक बृत्ति हो, वह शिक्षण का कार्य करे, जिसमें साधारण और नेतृत्व बृत्ति हो वह रक्षण का कार्य करे, जिसमें नैसस्टिक और संस्कृति हो वह उपार्जन का कार्य करे और जिसमें शासित वा सेवानिष्ठ हो वह सेवा कार्य करे। इस प्रकार जिनात्मक, नेतृत्व, नैसस्टिक और देश की स्वाभाविक वृत्तियों के आधार पर शिक्षण, रक्षण उपार्जन और सेवा के साधारण धारण का विभाजन किया गया और इसी आधार पर क्रम: ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैष्णव और शूर ये वर्ण बने। अतः वर्ण व्यवस्था जन्म पर नहीं, अपितु स्वभाव (गुण) एवं तदनुसार कर्म पर आधारित है।

वास्तव में हिन्दू आधार-दर्शन में भी वर्ण-व्यवस्था जन्म पर नहीं, कर्म कर्म पर ही
आधारित है। मैंने भी कृपया स्पष्ट कहते हैं कि वातावरण-व्यक्ति का निर्माण गुण और कर्म के आधार पर ही होता गया है।

प्राकृतिक रूप से, व्यक्ति का निर्माण व्यक्ति के अपने अंत के संबंध में, व्यक्ति के छान के चयन, उसके उपस्थिति के अंतर्गत होता था। उपस्थिति और ध्वनि के संबंध में, व्यक्ति का निर्माण व्यक्ति के न्याय से, व्यक्ति के अंतर्गत, जाति का निर्माण होता था। 

यहां व्यक्ति का निर्माण व्यक्ति के अंतर्गत जाति की भूमि का व्यक्ति का निर्माण होता था। उपस्थिति और ध्वनि के संबंध में, व्यक्ति का निर्माण व्यक्ति के न्याय से, व्यक्ति के अंतर्गत, जाति का निर्माण होता था। 

यहां व्यक्ति का निर्माण व्यक्ति के अंतर्गत जाति की भूमि का व्यक्ति का निर्माण होता था। उपस्थिति और ध्वनि के संबंध में, व्यक्ति का निर्माण व्यक्ति के न्याय से, व्यक्ति के अंतर्गत, जाति का निर्माण होता था।
है बस्तुतः गुण ही कल्याण कारक होते है। जाति से कोई व्यक्ति वाहे वाणिज्य कुल में ही उत्तन किया न हो, तत्त्व में स्थिर होने पर ऐसे वाणिज्य को भी तीर्थकर्म ने वाहुमण ही कहा है।

जैन भ्रणु वोचसां जो निषेध्य प्रवक्ता भावय17 में लिखते है कि "एक व्यक्ति दुष्काल, असाधारण और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अनुकूल गर्वने जन्म के कारण समाज में उि व आदरणीय समझ जाय व दूसरा व्यक्ति सुिील, जनी व सतोगुणी होने पर भी केवल जन्म के कारण नीी व लिंगपूर्वक समझा जाय। जब व्यवस्था समाज धारा है और मनुष्य की गरिमा व वितिकपशला पर प्रभु विचर लगाती है। इतना ही ही इस नामने से न केवल समाज के बहुस्मृतक भाग का आचरण होता है, प्रत्येक सत्सग के सम्बन्ध में आचरण होता है। असाधारण जाने पर विशेष होता है तथा तमोगुण सतोगुण के सामने आदरप्रसाद वन जाता है। यह ऐसी स्थिति है जो गुण ध्रुवक विकेरिजनों की सहयोगी ही सकती है।18 भावनार्थ है कि किसी जाति के विशेष में जन्म होने का महत्त्व नहीं है, नत्त्व है व्यक्ति के नैतिक सत्सागर और वासनाओं पर संबंध का। जैन विचारणा यह तो स्टोकर करती है कि लोक व्यवस्था या आजादीकर्म हेतु प्रत्येक व्यक्ति को देंगी यह वस्तुता इनके आधार पर किसी न किसी कार्य का द्वार तो करना होगा। यह भी ठीक है कि विभिन्न प्रकार के व्यवस्थाओं के आधार पर सामाजिक वाक्यकर्म भी होगा। इस व्यवस्थाकार्य सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में होने वाले वाक्यकर्म में न किसी की केंद्र, न किसी की हीन कहा जा सकता है। जैनधर्म के अनुसार मनुष्य या प्राणीकक की सेवा का क्रम भी कार्य हीन नहीं है। यहीं तक मन-मूह की सफाई करने वाला कहीं अर्थक श्रेणी है। जैन परम्परा में निर्मितिमुह में सेवा की कर्म-लोक-विषय है। जैन परम्परा में किसी व्यवस्था या कर्म को भी हीन भाव गया है, जब इस व्यवस्था का कर्म-हिस्सक या कुटुम्बकार्य कामों से गुजर हो। जैनधर्म ने जिन जातियों या व्यवसायों को हीन कहा है वही -- बिठार्य, बधिक, बिधिकार, मध्यकार आदि। किसी व्यक्ति के अधीन कार्य का कर्म नहीं करने वाला कहीं अर्थक श्रेणी है। जैन परम्परा में किसी व्यवस्था का कर्म को भी हीन भाव गया है, जब इस व्यवस्था का कर्म-हिस्सक या कुटुम्बकार्य कामों से गुजर हो। जैनधर्म के जातीय समता जैसंध का मुख्य आधार है। उसमें हर्षकार्य जैसे चाणक्य, अरुषनमली जैसे मालकार, बूद्ध मै, जैसे धर्मी हर्षकार्य और शक्ताल पुत्र जैसे कुम्भकार का भी भी हीन स्तर है, जो स्थान उसमें दर्शन नुमारा जैसे ईर्उपाधि वाहुमण पुत्र, विश्वनाथ और अशोक जैसे क्षत्रिय नरेश, धन द शालिमार्ज जैसे समृद्ध श्रेणी निे है।

अत्यंती साधक जैसे पुरस्कार व्यक्ति को धर्म उपदेश करता है, वें के ही कुछ (विधिन विद्रो) को भी धर्म उपदेश करता है।20 समाज के साधन में सभी मानवों को समान अधिकार प्राप्त है। धीन-निधन, राजा-प्रजा और वाहुमण-मूह का भेद जैन धर्म का मान्य नहीं है।
जैनधर्म में वर्ण एवं जाति व्यवस्था का ऐतिहासिक विकासक्रम

मूलतः जैनधर्म वैदिकवाद्यका रूप से जातिव्यवस्थाके किस्मथ खड़ा हुआ था, किन्तु कालक्रम में बहुत हिन्दु-समाज के प्रभाव से उसमें भी वर्ण एवं जाति समंजसी अवस्थायें प्रवृत्त हो गईं। जैन परम्परा में जाति और वर्ण व्यवस्था के उद्धव एवं ऐतिहासिक विकास का विवरण संवृद्ध साहित्य आधार आधारित (लगभग ईस्वी सन 7वीं सदी) में प्राप्त होता है उसके अनुसार प्राचीन में मुख्य जाति एक ही थी। सम्पन्न के ख्या राज्य-व्यवस्था का प्रारंभ होने पर उसके दो विभाग हो गये -- 1. श्रावक (स्वामी) और 2. श्राविक्त (सेवक)। उसके पश्चात् शिल्प और वाणिज्य के विकास के साथ उसके तीन विभाग हुए -- 1. श्रावित्र (श्रावक), 2. वैश्य (कृषिक एवं व्यवसायी) और 3. शून्य (सेवक)। उसके पश्चात् विभिन्न धर्मों की स्थापना होने पर आत्मसंकट, सत्याज्ञों और धर्मनिर्णय व्यक्तियों को ब्राह्मण (बाहृण) कहा गया। इसप्रकार क्रमशः चार धर्म अधिकतम में आये। इन चार धर्मों के स्त्री-पुरुषों के समक्ष तथा अन्तर्वर्ग अनुसूची प्रतिलोम संयोजनों से सोंतवान करने, जिनमें सहायता और नौ अन्तर्वर्ग कालान्तर। सात धर्म ने समक्ष: स्त्री-पुरुष के संयोजन से चार मूल वर्ण का ब्राह्मण पुरुष एवं श्रावित्र स्त्री के संयोजन से उपवन, श्रावित्र पुरुष और वैश्य स्त्री के संयोजन से उपवन और वैश्य पुरुष और शून्य स्त्री के संयोजन से उपवन ऐसे अनुसूची संयोजन आधारित (ईस्वी की 7वीं सदी) के इसे सक्षम करते हुए जनाया गया है कि'ब्राह्मण पुरुष एवं श्रावित्र वर्णों के संयोजन से जो सत्यम होती है वह उत्तम श्रावित्र, शून्य श्रावित्र या संक्षेप मे वर्ण कही जाती है, यह पांचवा वर्ण है। इसी प्रकार श्रावित्र पुरुष और वैश्य स्त्री से उपवन सत्यम उत्तम वैश्य, शून्य वैश्य या मकर वैश्य कही जाती है, यह चतुर्वेदि वर्ण है तथा वैश्य पुरुष एवं शून्य-स्त्रिय के संयोजन से उपवन सत्यान शून्य शून्य या संक्षेप शून्य कही जाती है, यह सातवा वर्ण है॥ पुनः अनुसूची और प्रतिलोम समझदारों के आधार पर नन्म नौ अन्तर-वर्ण केंद्र। ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री के 'अनुसूच' नामक आठवा वर्ण उपवन हुआ। श्रावित्र पुरुष और शून्य स्त्री के 'उप' नामक नववा वर्ण हुआ। ब्राह्मण पुरुष और शून्य स्त्री के 'सिवाद' नामक दसवा वर्ण उपवन हुआ। शून्य पुरुष और वैश्य स्त्री के 'अयोग' नामक ग्रहणवाद वर्ण उपवन हुआ। श्रावित्र और ब्राह्मण स्त्री के 'कान्ता' (कृषि) नामक चौहावा संस्कृतवाद वर्ण उपवन हुआ। वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संयोजन से 'वैधे' नामक पालवाही वर्ण उपवन हुआ। शून्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संयोजन से 'वाण्डा' नामक सोलहवा वर्ण हुआ। इसके पश्चात् इन सोलह वर्णों में परस्पर अनुसूची प्रतिलोम संयोजन से आठवा जातियों अविभक्त में आयीं। 21uellen

उपरोक्त किताब में हम यह देखते है कि जैन धर्म के आदर्शों ने भी कस्त-कम में जाति और वर्ण की उपस्थिति के संदर्भ में हिन्दू परम्परा की व्यवस्थाओं को अपने बंगा से सम्बंधित कर स्वीकार कर लिया। लाभग्राह सत्यवीं सदियों में दक्षिण भारत में हुए आधार जिनसे ने लोकार्पण के भय से तथा जैन धर्म का अस्तित्व और सामाजिक सम्बन्ध बनाने रखने के लिए हिन्दू वर्ण एवं जातिव्यवस्था को इस प्रकार अलंबन कर लिया कि इस समय में जैनों का जो वैश्विकता था, वह प्रायः समाप्त हो गया। जिनसे ने संवृद्ध समय वह कारण कि आदित्य वृहदा
जैन धर्म में जैतीय मद और कुश मद को निर्देश दिया गया है। भगवान महादेव के पूर्व-जीवन की कथा में यह बयां आता है कि शास्त्रीय के भव्य में उन्होंने लगभग कुश का अर्थन किया था, फलस्वरूप उन्हें निम्नविधक कुल अर्थात श्राधुष्ण ग्राम इत्यादि का अर्थ है। आलोचना में वे स्वयं कहते हैं कि यह आल्पुत्र अनेक बार उद्योगोत्तर को और अनेक बार नौक ग्राम को प्राप्त हो चुका है। इसलिए सुझाना: न तो कोई हिस्सा/ नौका है, और न कोई अर्थविकाय/ विभेद/द्वैत है। साथ ही हमें यह भी जानना चाहिए कि इस स्पष्ट उद्योगोत्तर का निष्पद्व न करें। उक्त तथ्य को जानना चाहिए क्योंकि जैन धर्म का आदर्श करेगा? और कैसे ग्राम/ जैविक विकास में आसान चित करेगा? 25

इसलिए ध्वनिवरी पुन: उद्योगोत्तर प्राप्त होने पर दर्शन न हों और न नौक उद्योगोत्तर प्राप्त होने पर कुश्वन्दित हो। व्यापक जैन धर्म में उद्योगोत्तर एवं निश्चित की द्वारा उपलब्ध है। किसी ग्राम का सम्बन्ध जाति अश्वास्त्रु स्थापना-स्थापना के साथ जोड़ना आत्मवाद है। जैन कर्म सिद्धांत के अनुसार वेदांत में उद्योगोत्तर का उद्योग होता है और वाचन मात्र में नौक ग्राम का उद्योग होता है, किंतु ग्रामकार में भी किसीचित्रकृत देव नौका एवं अस्थाय रहते हैं। इसके विपरीत अनेक निम्न ग्राम में उत्पन्न पृथ । जैसे -- ग्राम, घृंट, ग्रामि बहुत की समय की वृत्ति से वेष्ट स्वात होते हैं। वे अस्थाय नहीं माने जाते। अत: उद्योगोत्तर में उत्पन्न व्यक्ति भी हैं और नौक ग्राम में उत्पन्न व्यक्ति भी उद्योग हो सकता है। अत: ग्रामकार के ध्वनिवरी का प्रथमता जातिवाद तथा स्थापना-स्थापना की ध्वनिवरी के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। भावना महादेव ने प्रस्तुत सूत्र में जाति-ग्राम, ग्राम-नौक आदि को निरस्त करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि "जब आल्य अनेक बार उद्य- नौक ग्राम का
स्पर्श कर चुका है, कर रहा है तब फिर कौन ऊंचा है ? कौन नीचा ? ऊंच-नीच की भावना मतर एक अलंकार है, और अलंकार ‘मद’ है। मद नीतिमान्त के बनना का मुख्य कारण है। अतः इस गोकृत्वाद व मानवाद की भावना से मुक्त होकर जो उनमें तटस्थ रहता है, वही समस्तंशील है, वही पन्थित है।

महुरा से प्रात अभिलेखों का जब हम अभ्यस्त करते हैं तो हम जात होता है कि न केवल प्राचीन आगमों से आयतु हानिलेखों से भी यहीं पात होता है कि जैन धर्म ने सदैव ही नागाजीक समस्ता पर बल दिया है और जैनधर्म में प्रचेष्टन का धर अंगी साधनों के व्यक्तियों के लिए समान रूप से खुला है। महुरा के जैन अभिलेख इस संबंध के स्पष्ट प्रमाण हैं कि जैन मन्दिरों के निर्माण और जिन प्रतिमाओं की प्रकरण में धनी-निधिय ब्राह्मण-शूद्व अंगी कार, जातियों एवं वर्गों के लोग समान रूप से भाग लेते थे। महुरे के अभिलेखों में हम यह पाते हैं कि लोहार, सुनार, गंधर्व, केकड, लोहवधि, नर्सिंग और यहाँ तक कि गाथ़ीकर्मों भी जिन मन्दिरों का निर्माण और जिन प्रतिमाओं की प्रकरण करवाते थे। 26 जानकारी है कि महुरा के इन अभिलेखों में सामग्री 60% वास्तविक उदाहरणों से हैं, जिन्हें सामाजिक निम्न माना जाता है।

स्थूलभित्त की प्रस्तुति को तथ्य द्वारा जैनधर्म अंगीलक करने की कथा है कि तत्काल ही लोक-विद्वान्त है। 27 महुरा के अभिलेखों में भी गाथिया नादा द्वारा देव कुलिका की स्थापना भी इसी तथ्य को सुनिश्चित करती है कि एक गाथिया भी आधिकारिक के दृष्टि को अंगीलक करके उनकी ही आदर्शवाद बन जाती है, जिनकी वाद राज-निधिय। आदर्शवादी और त्यागवादी प्राचीन में व्यक्तिगत कोश द्वारा कथन और महुरा में नादा नामक गाथिया द्वारा स्थापित देव कुलिका, आदर्शवादी तत्काल इस संबंध के स्पष्ट प्रमाण है। जैन धर्म यह भी मानता है कि कोई दुसःसरूप व दुरुपालीय व्यक्ति भी अपने दुस्कर्म के परिप्रेक्ष्य करके सदासागर पूर्ण नीतिक-जीवन व ध्यानसाधन को अपना कर समाज में प्रतिपादित बन सकता है। जैन साधनों का उदाहरण तो उसका है जो उस पर बसता है: दण्ड, जाति या वर्ग विशेष का उपर पर एकाधिकार नहीं है। जैन धर्म अध्ययन का उद्देश्य तो दर्शन के जल की दृष्टि करते हैं उसी प्रकार मूर्ति को भी ऊंच-नीच, धनी-निधिय का विचार किये और सर्वत्र स्नातक का उद्देश्य करना चाहिए। 28 जब तल भिन्न है कि हमें कोई कितना प्रभाव करता है। जैन धर्म में जन्म के आधार पर किसी को निम्न या उच्च नहीं कहा जा सकता, वह यह इसका अवश्यकता है कि अनौपचारिक करना अवध क्रम क्रम अपनी आदर्शवाद अनुसार करका यथायोग्य नहीं है, ऐसे व्यक्ति अवध क्रम कर्म को रोकते हैं किन्तु वे अपने क्रम ही अंगिन कहाँ के परावर्तन करके श्रेष्ठ बन सकते हैं।

जानकारी है कि आज भी जैन धर्म में और जैन आचारों में विभिन्न जातिों के व्यक्ति प्रकट पाते हैं। मात्र यही नहीं अपना जीवन को अंगीलक करने के साथ ही निम्न व्यक्ति भी सभी का उसी प्रकार अपना आदर्शवाद बन जाता है, जिस प्रकार उद्योगिय या जाति का व्यक्ति। जैनधर्म में उनका स्थान समान होता है। यथाप्ररूपकाल में हिंदू परम्परा के प्रभाव से विशेष रूप से
दक्षिण भारत में जातिवाद का प्रभाव जैन समाज पर भी आया और सत्यकाल में मंत्र, आदि जाति-जुगित (निर्माण) व भूमिकाएं, जन आदि कर्म-जुगित व्यक्तियों की धारण सत्य में प्रवेश के अवसर माना गया। जैन आदियों ने इसका कोई आधार कर्म न देकर भारत लोकप्रवाद का प्रभाव दिया, जो स्पष्ट रूप से इस तथा का सूक्ष्म है कि जैन परम्परा की जातिवाद भूल-भूत हिन्दू प्रभाव के कारण लोकप्रवाद के भय से स्वीकार करना पड़ा।

इसी के परिणाम स्वरूप दक्षिण भारत में विकसित जैन धर्म की दिगम्बर परम्परा में जो शूद्र की दीक्षा एवं आर्थिक के मिलकर की आधारण आई, वह राज व्रजपत्र के प्रभाव के कारण ही था। विशेष रूप से श्री दक्षिण में जो खण्ड जाति के उपर जैन धर्म का पालन करते थे, वे इस सबके बावजूद भी जैनधर्म से जुड़े रहे और वे आज भी अपने ध्वंस पूर्व नामवादी सम्मान के सिद्धांत की जो उल्लेखन किया, उसका परिणाम भी उन्हें मुगल या और जैनों की जनसाध्या सीमित हो गइ।

विशते वर्षों में सत्यकाल से जैनों में विशेष रूप से ध्वंसकार परम्परा में वह समाधीक दृष्टि पूर्व: विकसित हुआ इसे कुछ समय जैन धर्म के के फलस्वरूप कुछ ऐसी जानिए। जो निम्न एवं कुर्सियार समस्ती जाती थी, न केवल जैन धर्म में दीक्षित हुई अपिुत उन्होंने अपने हिस्सक व्यवसाय की धारण कर साक्षात् जीवन को अभाव है। विशेष रूप से खंडित और बलाई जातियों जैन धर्म से जुड़ी है। खाटों (हिन्दू-कुर्सियार) के लाभ की दीन हजार परिवार सभी समस्ती मुनियों की धारी प्रेमा से अपने हिस्सक व्यवसाय और मनोरंजन आदि व्यक्ति के प्रति दिन करते जैन धर्म से जुड़े और वे परिवार आज न केवल समृद्ध व सम्पन्न है, अपिुत जैन समाज में भी जीवन शास्त्र व पुरुष है। इसी प्रकार बलाईयों (हरिजों) का भी वह बड़ा तबाह जनालय में आधार नाम-लालन जी की प्रेमा से मंदिर स्थान, पारंपारिक आदि त्योहार विवाह के संस्कार से जुड़ा और एक साक्षात् जीवन व्यवस्थापन करना उन्हें प्रेरित हुआ है, ये इस दिन में अपकी उपलब्धि है। विशुद्ध अयोध्या व नयार्जन जैन आदियों एवं बुद्धियों ने भी अपने दीन हजार में सरल जाति एवं परम्परा व्यक्तियों को जैन धर्म से पूर्व जोड़ने के सफल प्रयास किये है। आज भी अनेको जैनधर्म सामाजिकता सिद्ध करते जाति दीक्षित है और जैन संस्कार जैन धर्म से आदरणीय है। इसी का प्रकाशित होता है कि जैनधर्म सदैव ही सामाजिक साधन का स्वरूप रहा है।

जैनधर्म में जातिवाद और जातिवाद के सन्दर्भ में जो वित्त हुआ उसके निकाय भिन्न है --

1. सम्पूर्ण मानव जाति एक ही है क्योंकि उसमें जाति भेद करने वाला ऐसा कोई भी स्वामीवादित लक्षण नहीं पाया जाता जैसा कि एक जाति के पशु से दूसरे जाति के पशु में अंतर होता है।

2. प्राप्ति में मनुष्य जाति एक ही है। जा एवं जातिवाद ज्योतिष के आधार
पर सामाजिक कर्तव्यों के कारण और आजीविका इंतू व्यक्ति को अपनाने के कारण उत्पन्न हुई। जैसे-जैसे आजीविका अर्जन के दिविष्यों योत विकसित होते गये तेसें-केसे मानव समाज ने विकसित जाति व्यक्ति अर्जन में आती गई, किन्तु वे जातियों मौलिक नहीं हैं। मानव मानव जीवित है।

3. जाति और वर्ग का निर्धारण जन्म के आधार पर न होकर व्यक्ति के शुभरूप आदरण एवं उसके बारे अपनाये गरे व्यक्ति द्वारा होता है उसे वर्ग और जाति व्यक्ति जन्मना नहीं, अतः वर्ग कर्मणा है।

4. वां जाति और वर्गवर्जन स्वरूप व्यक्ति अथवा सामाजिक धार्मिक पर स्थित है तो ऐसी विभाजन सामाजिक कर्तव्य और व्यक्ति के परिवर्तन के आधार पर जाति एवं वर्ग में परिवर्तन सम्बन्ध है।

5. कोई भी व्यक्ति किसी जाति या परिवार में उत्पन्न होने के कारण ही न या अर्जन नहीं होता, अतः वह आपने नृत्यवर्ग के आधार पर अर्जन होता है।

6. जाति एवं कूल की अत्याचार मिलता है। उसके कारण सामाजिक समता एवं आन्तरिक भांति भांति होती है।

7. जैनमय के द्वार सभी वर्ग और जातियों के लिए समान रूप से खुले रहे हैं। प्राचीन स्तर के जैन ग्रंथों से यह संकेत मिलता है कि उसमें असामान ही कड़ों और सभी जातियों के व्यक्ति जिन-पूजा करने आदर्श धर्म एवं मुनि-धर्म का पालन करने और साधने के सबसे तथ्य निर्णय को प्राप्त करने के अधिकारी माने गये थे। अतः अर्जन के लिए जाति और मूल साधन अथवा प्राप्ति के समान माना। श्रेष्ठावल आदि में कहीं शुरू की दीक्षा का निर्धारण नहीं है, स्थानात्मक रोम, भाषाओं और नागर्त दीक्षा का निर्धारण किन्तु अभी वस्तुकर उसे भी जाति-जूनित जैसे-जैसे विषयक आदि और कर्म जूनित जैसे तक आदि की दीक्षा का निर्धारण दिया गया। किन्तु यह अभी नहीं परस्पर का भाष्य ही था जो कि जैनमय के गृह सिद्धांत के विस्तार था, जैसे ने इसे केवल अपनी सामाजिक प्रबंधन को बस्तते रखने हेतु साधनक्रियाएँ, बिना आदि आदि अनेक वांदालों के मूर्ति होने और मोह अर्जन करने के उल्लेख है।

8. प्राचीन जैनमय में मूर्ति के लिए उल्लेख, व्यक्ति और पिता जीवन शुरू हो से मिला वाणिज्य करने का निर्धारण मिलता है इससे यही फलित होता है कि जैनमय में वर्ग या जाति का कोई भी महत्व नहीं था।

9. जैनमय का यह स्वीकार करता है कि मूर्ति में कृष्ण स्वभाव भिन्नताएं सम्बन्धित हैं, जिनके आधार पर उनके सामाजिक दाहिक एवं जीवनकार्य के समान भिन्न होते हैं। किन्तु इस बात का समर्थक है कि अपने मूर्ति के अन्य सामाजिक दाहिक एवं आजीविका अर्जन के साधनों को वाणिज्य करने का कृष्ण स्वतंत्र व्यक्ति और सामाजिक, नौकर एवं आयुक्त एवं कियूस और आयुक्त के समान अवसर उपलब्ध होने वाले, क्योंकि वह भी सामाजिक समता का मूल आधार है।
सन्दर्भ

1. बाहुमणोग्य स्वभावसीमा राजन्य कुरऱ ।
   उह तद्यत्व दक्षत्य: पत्थरा शुद्धे अजायत।।
   - शासक, 10/90/12, स. वादेसर साहित्यकार, बालसाहित्य, 1968

2. अभिध्वानसंस्कृतम्, खण्ड 4, पृ. 1441

3. क्वाय एकत्र फिस्तु: सुतार्थित्वात्सन सुवाना खृतु जातिरेका।
   एवं प्रजाना व पितृक एवं पितृकभवाय स जातिभेद:।।
   फलान्न्योद्योगी वृद्धज्ञात्वाद्रार्थात स्थानिन जानि।
   रुपाक्तिस्पर्श्वात्वाति तानि तात्कौती जातिरिप्रविष्ट्वा।।
   न बाहुमणाःशांचत्वात्मित्वात्सना न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पगृहाः।।
   न तेवः दैवताः हरितालकृत्वा: शुद्धा न बाहुमणाः स्थानान्नवाः।।
   - वराधारित सर्ग 25, श्लोक 3,4,7 -- जटास्विनन्दी, संपा. ए. एव.
   उपाधे, बम्बई, 1938

4. तेन निर्नानुणासोकतां दिना केसका: परपरावकीया:।
   मायाविनो धीतिसा नृणयो व क्षे महत्त्वात्मा जातिक्षेत्रे।।
   तेवा दिनां मुख निर्माणिनि कालान्योद्योगायोगात्मनाशानि।
   इत्यादि कालान्योद्योगाय: प्रहुज्ञात्म लचीत इत्येक महाकयस्तात।।
   कथानो रससुपतेव दिते नृतातुरुपणासाय वेयान।
   जीवात्मा वसुकृतिरसाध्ये कर्माणुपावसाय ज्ञानानु।।
   न बाहुमणाविश्वस्त्वाय कावितिरति न क्षत्रियो नायि व कैत्याधुः।।
   तत्सतु कर्मासुःशवा भितालाः संसार वके परविवश्मिति।।
   आयातायाष्ट्वाय श्रीराधो वदेन न हि ब्रह्म कवसति तत्त्वः।।
   शान्त य न ब्रह्म वशो निकृष्टमेषु शुद्धोपिपैः केवलावत् कवसति।।
   विखरायिका चार्य गुणम्: प्रर्वीगाः न जातिमाक्रम भवेतसंविहः।।
   दाने शैलेन गुणेन कुक्तं तत्समां हुहुमण ब्रह्मकिंतो कवसति।।
   - वर्धी, सर्ग 25, श्लोक 33, 34, 40-43

5. नो लोक बम्बणो कुतरू, अभिव्व घटितो जहा। सवा कुलसंस्मिद्धां, तं तं ब्रुम मूहमण्।।
   जो न सौजन्य आभार, प्रकाशको न सोहे। रमेश अभिज्ञानम्ममि, तं तं कुम मूहमण्।।
   जामस्तं जामस्तं, निद्रास्तमयात्मका। रागस्तोभावायु, तं तं कुम मूहमण्।।
   तवर्तिवृ दिमथ अनवधिपरसमायं। सुमनं पथामित्राः, तं तं कुम मूहमण्।।
   तस्पायो विमायेत्ता, संप्रेयाण य वाचे। जो न हिस्वह तिहित्रि, तं तं कुम मूहमण्।।
   कोहा वा जह वा हस्ता, लोहा वा जह वा भया। मुस्तु न कव्वरो जो उ, तं तं कुम मूहमण्।।
   चित्तमन्तरित वा, अभि वा जह वा बहु। न गिण्हाद अन्यते चे, तं तं कुम मूहमण्।।
वारियोक्करणोत्र व आरागोरित सासोटी।
यो न नियमित कलेमोऽ तमः, बृहि ब्रह्माण्डः
यो दुकःस्य सङ्गातिति हकः द्वाकात्ते॥
पष्यां किष्किषुत तमः बृहि ब्रह्माण्डः॥
गम्भीर पत्रं केशोविति करणामयसस्य कोकिलः।
उत्तमं अनुकृतं तमः बृहि ब्रह्माण्डः॥
- शम्भव, ब्रह्माण्डः 401-403, सम्पादक विभुक्तिरक्षित, 1983

7. शूद्रोद्ष्विति शैलसंपन्नो गुणवान्न ब्रह्माण्डः भूतः।
ब्रह्माण्डःपि क्षिप्याहीनं शूद्रापपत्सानं भूतः॥

अतः -
सर्वजातिः चापाला: सर्वजातिः पुराणः।
ब्रह्माण्डःपि क्षिप्याहीनं शूद्रापपत्सानं भूतः॥

कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे धे धे धे धे धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे धे धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे धे धे धे धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे धे धे धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे धे धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
कृषि-वाणिज्य-गौर्यशा राजसेवावर्चसीना:॥
धे धे प्रकृतिः न केवलोत्तर चापाला:॥
हिंसकोऽनुवादी धे प्रकृति...
8. कप्पुग्रा ब्रजभागों होई कप्पुग्रा होइ खिलो।
वहासे कप्पुग्राशेय सूर्योद भवह कप्पुग्रा।
- उत्तराध्याय गूप्त 25

9. मुद्राज्ञातीनेत्रेश जातिनामोगोऽध्यान।
दुःखित्वीश्वासंहृतमानविघातिप्रहसिन्धुते। 38-45।।
ब्रह्मण ब्रह्मणकरणात् ज्ञातिः शस्त्राध्यायात्।।
वधुप्राप्तिर्ज्ञानान्यवात् ब्रह्मण न्यायूक्तिसंकाश्यात्। 38-46।।
गुष्टिरुन्त्रवा ब्रह्मणसंहाराध्यायदिसम्पन्त।
प्र्दक्कृत्वेदयक्षात्सायण गुष्टिक्यात्मितिरिप्र्यते। 38-137।।
सूत्-सत्तमन्त्रो दृश्य अस्यद्व न्यायस्वत्वविविधो।
आपदाविकसदेः गृहां धर्मप्रुद्ध प्रभाववेतु। 40-189।।
तीर्थकृत्वेदिन्युज्ञान भृगु: धर्मप्रुद्धः: सनातनी।
तो ज्ञानपञ्चमेव सृष्टिरूपेन श्रेयोत्तमेन्। 40-190।।
- महाबुर्धण, जिन्नान 38/45-46, 137

10. भास्कर्गीता, हौ. राधाकृष्णन, पृ. 353

11. वातुकृष्ण नवप्रहारणमविभागः।
- गीता, 4/13

12. भास्कर्गीता - राधाकृष्णन, पृ. 163

13. राजव कुलकृत्वेदय कुलव धश्यादित्व श्रुतिक वा।
ब्रह्मण: केन भवति ब्रह्मणेवेतु सूत्रिशिवालयम्। 3/3/107।।
श्रुति यथा कुलव तत्त्व न स्वाध्यायो न गृह्यं
कारण हि दिक्षितेव च गृह्यायेव न संज्ञायः।।
- महाभारत, कन्याय 313/107, 108 गीता प्रेस, गोरखपुर

14. देखे -- शान्तोपयोगध (गीता प्रेस, गोरखपुर) 4/4

15. शुद्ध ब्रह्ममणादेशेति ब्रह्ममणाधिति शून्यताम्।
क्षेत्राविद्याज्ञानात्मकं वै विश्वास्यालत्वमेव व।।
- मुनि मुख्यु 10/65, मं. सत्यन्दुर गोय, 1966

16. सर्वनानादिनमस्ननमिति मात्रादेशवतम।
देखे देव विद्वानस्मानं गृहिणास्त्रीरोकाम॥
- रत्नकरणकामकारण, 28
17. न जातिश्चिति काहिलु गुण: कन्यानकारणम्।
इतस्यनपि वाणाले तं देवा चार्णु विदु:।।
- पद्मावर्धित पर्व, 11/203

18. निर्निन्नयुक्तमन्याय -- सुनि रो दोषक में, पु 289

19. सक्य चु दीसह को विषेषो, न दीसह जाण विशेष कोड।
सोवागुते हरिपु सहू, जससे इंध गहणढ्ख़भागा।।
- उत्तराध्यायकृत, 12/

20. जहा पुण्ड्रस कथ्यति तत्ता तुक्रस्स कथ्यति।
जहा तुक्रस्स कथ्यति तत्ता पुण्ड्रस्स कथ्यति।
- आधारांग -- सं. महाकर मुनि, 1/2/6/102

21. एका मणुस्सजाहि रजु严प्रतिलोक दो कर्त उसमे।

रिङेद सिप्तमम्मित साचाईमम्बतरि।।
संजोगो सीसतस्सत बन्द बन्द नव ब अतिरिक्षो
पए दोवि विगापा ददोन बन्दस शायवा।।
पाई दुखकामापि ते हिन्द सत वन्द नवं।।
आण्तरमु दरस्स कर्तो खनु होइ गायवो।।
अबदुदुसकामिनिसाया य अजोगि नागि व नूता य।।
अर्ष्टति( ) विदेशाविय वन्दान्न नवंगं हुति।।
एकारि जनास अबदुदु देव होइ उगो व।।
चिर्तावर्जु निसारो प्यस्नार त च दुव देखो।।
पहिलोमे सुदुवाइ अजोगि साहि व नूता अ।।
एकारि खल्त वेदेला देव नायवा।।
बिनिबंधेर निखार चहाली दोसित होइ गायवो।।
अणुलोमे पड़रोमे एवं ए भवे भवा।।
उगरण खल्तै सीवागो बन्दो विदेशें।।
अबदुदु दुवदीर बुकससो जो निसासम।।
सूता निसासाहु कुकरदो मार्ब्बे होइ गायवो।।
एसौ तलो मेतो चतुर्विंम बो होइ गायवो।।
- आधारांगनिःस्करित, 19-27

21. ‘एका मणुस्सजाहि गाता (19-8) पृथ उसमसाृपस्स
पुष्च्यायांमन्यायहर्षैसाधाततविदुःश्चुपायविहीस्ति, तत्ता जे राजाधिष्टि ते व खल्तिया जाया
आण्डिस्ता गिथक्षो जाया, जया आयी उप्रणो मनो व भगवास्सिस्ता सिरसिष्ठा
वाणिः जाया, तेहि तेहि सिप्तावणिःजिहि विति विस्तरी सिस्ता उद्धना, भगवाम
पविष्ठे भरसे आलिस्ते सावाणे उप्रणे वेन्ना जाया, आण्डिस्ता बीणा जाया
मागान्ति, उद्धुपसभावा धमापिखा जाय विकिर्द विक्षप्ति ते विमारांति मा हण भो मा
हन, एवं ते जानक सुकम्बकंविकित्नाना भंगना (भावना) जाय, जे पूण अग्रसिंह 
असिधितो ते कविक (क) लासुकबिकलो तेसु, तेसु पोवासुस सोलमणा 
हिसाबसिंहसिडलो सज्जनाना। संग्रामसिडला सुदाता संवत्ता, एवं तव दत दतात्विक वण 
ताठिता, सैतासौ संज्ञाप्त, तव शंजीध्री सोलसार गाहा (20-8) पति से वेल उष्ण 
वाणणा पुत्रकातुरसि अग्रसिंहसिडला आणा तितितण वणना भवति, तव पदाशी 
चउकसिएते गाहा (21-8) पताकी गाना बरभेतिकावसिडला चुड़ी वणना। जाणै 
अत्रेण-भणणा भवितितितीषु जाणा सो उल्लम्बितार वा सुदृढ़कंकितार वा अह्वा 
संकरकंकितार पंक्ति माणना, जो पूण दतितण बरसीरे जाणा एसी उल्लम्बसिडवा 
सुदृढ़कंकिता वा संकरकंकिता वा कटुण्ड कणणा, जो वहसिद्ध सुन्दृष जाते सो 
उल्लम्बसिडता वा (सुदृढ़कंकिता वा संकरकंकिता वा सत्तनो कणणा)। जाणै 
वणणा कणणीह 
वा अन्तिरितो अणुसूरमो पहसिद्धतो व अंतरा सत्त वणणित्या भवति, जे अंतरिया ते 
पंवारिया सुन्दरतित्या भवति। दतात्व गाहारो पादश्चारो (22, 23, 24, 25-8) तव न 
ताव वणणा बरसीरे जाणा अन्तिरितण वुद्ध प्लो अद्वधमो कणणा, दतितण वुद्धी ए 
जातो उदगीतण वुद्ध प्लो नवरो वणणा, बरसीरे वुद्धीरे नितापोती वुद्ध, 
कितपारारसिनव, तितितण गाना, दससा कणणा। जाणै पहसिद्धभणणावर-वुद्ध 
बरसीरे जाणा अवभारुतण भणणाव, एक्स्फलसरो वणणा, बरसीरे दतितण 
अवभारुतण जाणा माणहोतण भणणाव, दुवासरो, दतितण बरसीरे जाणा 
उदगीतण वुद्ध एसी वा वरसीरे, बरसीरे वुद्धीरे नितापोती वुद्ध, 
कितपारारसिनव, तितितण गाना, दससा कणणा। जाणै पहसिद्धभणणावर-वुद्ध 
बरसीरे जाणा अवभारुतण भणणाव, एक्स्फलसरो वणणा, बरसीरे दतितण 
अवभारुतण जाणा माणहोतण भणणाव, दुवासरो, दतितण बरसीरे जाणा 
उदगीतण वुद्ध एसी वा वरसीरे, बरसीरे वुद्धीरे नितापोती वुद्ध, 
कितपारारसिनव, तितितण गाना, दससा कणणा। जाणै पहसिद्धभणणावर-वुद्ध 
बरसीरे जाणा अवभारुतण भणणाव, एक्स्फलसरो वणणा, बरसीरे दतितण 
अवभारुतण जाणा माणहोतण भणणाव, दुवासरो, दतितण बरसीरे जाणा 
उदगीतण वुद्ध एसी वा वरसीरे, बरसीरे वुद्धीरे नितापोती वुद्ध, 
कितपारारसिनव, तितितण गाना, दससा कणणा। जाणै पहसिद्धभणणावर-वुद्ध 
बरसीरे जाणा अवभारुतण भणणाव, एक्स्फलसरो वणणा, बरसीरे दतितण 
अवभारुतण जाणा माणहोतण भणणाव, दुवासरो, दतितण बरसीरे जाणा 
उदगीतण वुद्ध एसी वा वरसीरे, बरसीरे वुद्धीरे नितापोती वुद्ध, 
कितपारारसिनव, तितितण गाना, दससा कणणा। जाणै पहसिद्धभणणावर-वुद्ध 
बरसीरे जाणा अवभारुतण भणणाव, एक्स्फलसरो वणणा, बरसीरे दतितण 
अवभारुतण जाणा माणहोतण भणणाव, दुवासरो, दतितण बरसीरे जाणा 
उदगीतण वुद्ध एसी वा वरसीरे, बरसीरे वुद्धीरे नितापोती वुद्ध, 
कितपारारसिनव, तितितण गाना, दससा कणणा। जाणै पहसिद्धभणणावर-वुद्ध 
बरसीरे जाणा अवभारुतण भणणाव, एक्स्फलसरो वणणा, बरसीरे दतितण 
अवभारुतण जाणा माणहोतण भणणाव, दुवासरो, दतितण बरसीरे जाणा 
उदगीतण वुद्ध एसी वा वरसीरे, बरसीरे वुद्धीरे नितापोती वुद्ध, 
कितपारारसिनव, तितितण गाना, दससा कणणा। 22.
स्थानोलंग्युत्रम्, अध्यदेश्युपासिकृति, (प्रकाशक- सं. मागेकल्लाल, चुनीलाल, अहमदाबाद, विक्रम संवत् 1994 ) सूत्र 3/202, वृत्ति, पृ. 154

25. से असर्दु उद्ध्वमयोऽसर्दु वैवार्त्तोऽसर्दु जीवार्त्तोऽसर्दु

णो दीक्ष णो अड्डरुते णो प्रतेप ।।

dत्त्वित्यं के गोयावदी, के माणावादी कंसि वा एनो सिज्जै।

तम्हाप्रिेण णो दृष्टन्ये णो कुर्भे ।

- आचार्याणां, (सं. महुकरमुक्ति) 1/2/3/75

26. जैन शिलालेख संग्रह, भाग - 2, संस्कृत विज्ञान, लेख कर्मीक 8,31,41,54,62.

67, 69

2531. आशक्षकुँणि, जिन्दकसागणि, अभिमेरि के सरीफं संस्था, रतनाम, भाग 1, पृ. 554

ब. भक्तिप्रिया, 128

स. तिल्यामालिका, 777

27. आचार्याणां, सं. महुकरमुक्ति, 1/2/6/102

28(3) स्थानोग, सं. कल्लैयालालजी कमल, 3/202

(ब) स्थानोग, अभ्यदेश्युपासिकृति, पृ. 154-155